ISSN-2394-6326
Journal de Brahmavart

प्रायद्वीपीय प्राचीन भारत : आर्थिक प्रगति एवं समग्र विकास

डा. अविनाश मिश्रा
एसो0 प्रो0, विभागाध्यक्ष,
प्राचीन भारतीय इतिहास विभाग,
डी. ए वी. कॉलेज, कानपुर

अभिशेक कुमार यादव
एम. ए. (प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति), नेट
डी. ए वी. कॉलेज, कानपुर

जब हम आरंभिक भारत के इतिहास की बात करते हैं, तो सामान्यतः उसे समझने के लिए हमारा ध्यान उत्तर–भारत की प्रवृत्तियों पर ही जाता है। विन्सेट स्मिथ का यह कथन भी है कि 'प्राचीन भारत के अब तक के इतिहासकारों ने इतिहास यों लिखा है मानो दक्षिण का अस्तित्व ही न हो।' उन्होने दक्षिण की उपेक्षा के दो कारण दिए हैं। उन्होने कहा है, 'भारत का इतिहासकार वस्तुस्थिति के कारण इसके लिए बाध्य है कि वह मुख्यतः उत्तर की आर ही ध्यान दे और दक्कन के पठार तथा सुदूर दक्षिण के इतिहास को गौण स्थान देकर ही संतोश करे।' दूसरा कारण देते हुए कहा है, 'उत्तर भारत संबंधी अभिलेख अधिक पूर्ण हैं।'[67] यह सही है कि दक्षिण के इतिहास के प्रारंभिक भाग के संबंध में हमारी जानकारी बहुत कम है, पर स्थिति इतनी निरा" ाजनक भी नहीं है, जितनी स्मिथ बताते हैं। पाशाण कालीन मानव के कियाकलापों के साक्ष्य भी प्रायद्वीपीय भारत सहित संपूर्ण भारत में प्राप्त होते हैं। भारत का दक्कन क्षेत्र वि" व के सबसे पुराने बसे हुए क्षेत्रों में से एक है। पुरापाशाण कालीन हैण्ड–एक्स परंपरा के उपकरण सर्वप्रथम मद्रास के समीपवर्ती क्षेत्र से प्राप्त हुए। राबर्ट ब्रूस फूट ने 1863 ई. में मद्रास के पास पल्लवरम् नामक स्थान से पहला हैण्ड–एक्स प्राप्त किया था। इसी कारण हैण्ड–एक्स संस्कृति को मद्रासी–संस्कृति भी कहा जाता है।[68] इसी प्रकार तमिलनाडु, महाराश्ट्र, कर्नाटक, महानदी–क्षेत्र सहित संपूर्ण प्रायद्वीपीय भारत में मध्य–पाशाण काल एवं नव–पाशाण काल के भी अवषेश मिले हैं। प्रायद्वीपीय भारत में नवपाशाणकालीन मानव प्रायः घाटियों के भीतर, पहाडी झरनों के निकट, पहाडी–ढलानों पर अथवा नदियों के तट पर बसने लगा था।

एक दिलचस्प बात यह दिखाई देती है कि उत्तर भारत एवं प्रायद्वीपीय भारत दोनो में प्रारंम्भिक संस्कृति के उत्थान–पतन के कम में अत्यधिक समानता दिखाई देती है। जिस प्रकार उत्तर भारत में सर्वप्रथम ताँबा धातु के प्रयोग के साक्ष्य मिलते हैं और कांस्य युगीन नगरीय हडप्पा सभ्यता के अव" ाश मिलते हैं, किन्तु इस सभ्यता के पतन के प" चात् लौहयुग के प्रारंभ में नगरीय सभ्यता के बजाय ग्रामीण आर्य

[67] डा0 के0 ए0 नीलकण्ठ भाास्त्री : दक्षिण भारत का इतिहास, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, 2014 – पृश्ठ सं. 2
[68] एस. के. पाण्डे : प्राचीन भारत का इतिहास, प्रयाग एकेडमी पब्लिके" ान एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, इलाहाबाद, 2014 – पृश्ठ सं.23

ISSN-2394-6326
Journal de Brahmavart

संस्कृति दिखाई देती है, जिसका विकास जन–जनपद–महाजनपद के रुप में दिखाई देता है एवं मगध साम्राज्य का उदय होता है। उसी प्रकार दक्षिण–भारत में भी ताम्र–पाशाणिक संस्कृति के अव" ाश प्राप्त होते हैं। प्रायद्वीपीय भारत में कृश्णा और तुंगभद्रा नदियों के मध्यवर्ती रायचूर दोआब में ताम्र–प्रस्तर संस्कृति का वि" ाश समुन्नयन हुआ। दक्षिण–भारत में उत्तर–भारत की अपेक्षा ताँबा कम उपलब्ध था, अतः वहाँ ताम्र–उपकरण अपेक्षाकृत कम संख्या में मिले हैं। नासिक, नेवासा, इनामगाँव, दैमाबाद आदि स्थानों पर ताम्र–पाशाणिक जार्वे–संस्कृति का विकास दिखाई देता है। दैमाबाद से ताँबे से निर्मित रथ चलाते हुए मनुश्य, सांड, गैंडे तथा हाथी की मूर्तियाँ मिलती हैं। जार्वे–संस्कृति के लोग काँसे की उपयोगिता से परिचित थे। दैमाबाद से काँसे की वस्तुएँ भी मिली हैं। जार्वे संस्कृति में खेती के लिए नहरों एवं बाँधों के निर्माण किए जाने के प्रमाण भी मिले हैं, जिसे कृशि तकनीक में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन माना जा सकता है। हाँ यह अव" य है कि अभी तक प्रायद्वीपीय भारत से हडप्पा, मोहनजोदडो के सादृश तात्कालिक सुविकसित नगरीय सभ्यता के प्रमाण प्राप्त नहीं हुए हैं, किन्तु जार्वे–संस्कृति में भी बस्तियाँ बसाने का काम योजनाबद्ध तरीके से होता था।[69] जबकि परवर्ती लौह–युगीन महापाशाणिक–संस्कृति ग्रामीण स्वरुप म थी। इस संस्कृति की जानकारी हमें बस्तियों से नहीं, बल्कि उनके स्मारकों (कब्रों) से प्राप्त होती है। इन स्मारकों को महापाशाण कहा जाता है।

महापाशाणीय संस्कृति के लोग मृतकों के अस्थि–पंजरों को गड्डों में दफनाते थे। मृतकों को इस प्रकार रखा जाता था कि उनका माँस खत्म हो जाता था और फिर उनकी हड्डियाँ अं" ातः इकट्ठी की जाती थीं, जिनको भिन्न–भिन्न तरीकों से दफनाया जाता था–पाँवों वाले ताबूत में, कलश में, भाप निकलने के छेद वाले ताबूतों में। ये स्मारक निश्चित रुप से ऊँचे चट्टानी मैदानों में पाए गए हैं, जहाँ खेती नहीं हो सकती, पर जो पहाडी और सिंचाई–तालाब के पास और खेती योग्य भूमि के बिल्कुल पास हैं। आदिचनल्लूर के लोग संभवतः चावल की खेती करते थे। इन स्मारकों में सामान्यतः लोहे के औजार और लाल एवं काले मृदभाण्ड पाए गए हैं। दफनाए गए सामानों में कृशि उपकरणों की तुलना में लडने और शिकार करने वाले हथियारों की संख्या अधिक है। इससे प्रतीत होता है कि महापाशाणीय लोग उन्नत कृशि से परिचित नहीं थे। दक्षिण भारत में कृशि के क्षेत्र में क्रंतिकारी परिवर्तन संभवतः आर्यों के आगमन के साथ पारंभ होते हैं। प्रारंभ में विंध्य पर्वत श्रेणी आर्य भूमि की मान्यता प्राप्त दक्षिणी सीमा थी।मनु स्पश्ट रुप से कहते हैं कि हिमालय तथा विंध्य पहाड और पश्चिमी महासागर के बीच का देश आर्यावर्त अर्थात् आर्यों का निवास–स्थान है। ऋग्वेद के अपेक्षाकृत बाद वाले स्रोत मे कहा गया है कि किसी व्यक्ति ने, जिसे आर्यों ने अपने बीच से निकाल दिया था, दक्षिण में जाकर भारण ली और अपने पैर उसी दिशा (दक्षिणापथ) में मोड लिए।[70]

---

[69] डा. मोहनलाल गुप्ता : प्राचीन भारत का इतिहास, भुभदा प्रका" ान, जोधपुर, ई–बुक संस्करण (किण्डल), 2019 – स्थिति 1614, 1644

[70] डा0 के0 ए0 नीलकण्ठ भाास्त्री : वही – पृश्ठ सं. 60, 73, 74

ISSN-2394-6326
Journal de Brahmavart

ऋशि–मुनियों के विंध्य–पर्वत तथा घने वनों को पार कर दक्षिणापथ पहुँचने के उल्लेख मिलते हैं, जिनमें अगस्त्य ऋशि का नाम उल्लेखनीय है। संगम कृतियों के टीकाकार नच्चिनाक्किनियर ने एवं अन्य लेखकों ने भी अगस्त्य ऋशि का संबंध द्वारका से स्थापित किया है। वेल्लिर द्वारकाधीश कृष्ण के वंशज माने गए हैं। अगस्त्य ने द्वारका से अठारह राजाओं के समूह, वेल्लिर के अठारह कुलों एवं अरूवारों का नेतृत्व किया। इन्होने मार्ग में आने वाले वनों का नाश किया तथा उन्हें कृशि योग्य बनाया। महाभारत तथा पुराणों में वर्णित आख्यानों में भी दक्षिण के भागों में वन जलाने एवं कृशि के विस्तार से अगस्त्य ऋशि का संबंध स्पश्ट रूप से स्थापित होता है।[71] ऋषियों के अभियान का उद्दे" य आर्य परंपरा का प्रसार मात्र हो, ऐसा नहीं था। इनका मुख्य उद्दे" य कृशि भूमि प्राप्त करना एवं जनजातियों तक यह वैज्ञानिक कृशि पद्धति पहुँचाना भी था। आर्य परंपरा मुख्यतः कृषि एवं मानव विकास का एक चरण था, ना कि एक संप्रदाय को भाँति।

अगस्त्य आदिकाल में दक्षिण भारत में संघर्श करने वाले आर्यों के प्रतिरुप थे। दक्कन में आज भी वह सबसे प्रसिद्ध ऋशियों मे से एक हैं और प्राचीन काल के सबसे पुराने शिक्षक माने जाते हैं। रामायण में अगस्त्य के आश्रम की ओर जाते हुए राम अपने छोटे भाई लक्ष्मण से बताते हैं कि सदा संसार के कल्याण में लीन अगस्त्य ने किस प्रकार भयंकर राक्षस को पराजित किया और ऐसा करके इस पृथ्वी को निवास योग्य बनाया। इस प्रकार धीरे–धीरे दक्षिण भारत में राज्यों का उदय हुआ। ऐतरेय ब्राह्मण में विदर्भ (बरार) राज्य एवं उसके राजा भीम की चर्चा की गयी है। महाजनपद काल में अ" मक महाजनपद प्रायद्वीपीय भारत में गोदावरी नदी के तट पर स्थित था। बौद्ध न्याय" ाास्त्र की पुस्तक 'सुत्त निपात' में लिखा है कि बाबरी नामक एक शिक्षक को" ाल छोडकर चला गया और वह दक्षिणापथ के अस्मक देश में गोदावरी के तट पर स्थित एक गाँव में बस गया।[72] अन्य दक्षिण भारतीय जनपदों व राज्यों के उल्लेख मिलते हैं। नन्दों व मौर्यों के आगमन के पूर्व दक्षिण प्रायद्वीपीय भारत अनेक जनपदों में बँटा था। ईसा पूर्व चौथी एवं तीसरी भाताब्दियों में नंद व मौर्य वं" ाीय राजाओं ने प्रायद्वीपीय भारत के अधिकांश भू–भाग को जीतकर उन्हें वि" ाल मगध साम्राज्य का अंग बना लिया। महाभारत एवं कौटिल्य के अर्थ" ाास्त्र में वर्धा तथा गोदावरी की घाटी–क्षेत्रों में सात्वत–वं" ाीय भोज नरे" ाों का उल्लेख प्राप्त होता है। पुराणों के अनुसार महापद्म नंद ने क्षत्रियों का विनाश (सर्व–क्षत्रान्तक) करके संपूर्ण पृथ्वी (अर्थात् भारत) पर अपना एकछत्र राज्य स्थापित किया था। कलिंग राजा खारवेल के हाथीगुम्फा–अभिलेख से ज्ञात होता है कि महापद्म नंद ने कलिंग को जीतकर वहाँ से जैन तीर्थंकर की एक बहुमूल्य प्रतिमा अपनी राजधानी पाटलिपुत्र उठा ले गया।[73] इससे महापद्म नंद के दक्षिण भारतीय अभियान की पुष्टि होती है। मैसूर में मिले कन्नड–भाशी लेख एवं दक्षिण भारत के साहित्य में भी नंदों की समृद्धि एवं वैभव के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

[71] द्विजेन्द्र नारायण झा एवं कृश्णमोहन श्रोमाली : पूर्वोद्धृत – पृश्ठ सं. 135, 141, 271
[72] डा0 के0 ए0 नीलकण्ठ भाास्त्री : वही – पृश्ठ सं. 74, 78
[73] डा0 हरि नारायण दुबे : दक्षिण भारत का वृहत् इतिहास, भाारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2002 – पृश्ठ सं. 23, 24

ISSN-2394-6326
Journal de Brahmavart

संगम युग का एक कवि मामूलनार के वर्णन में एक पात्र (एक प्रेम–वियोगिनी महिला) कहती है – 'वह कौन सी वस्तु है, जिसने मेरे प्रियतम को मेरे सौन्दर्य से भी अधिक आकृष्ट कर लिया है और उन्हें इतने दिनों तक मुझसे दूर रखा है? क्या यह युद्ध में विजयी महान नंद राजाओं द्वारा वैभव" ाली पाटलिपुत्र में एकत्रित तथा गंगा के पानी में छिपाकर रखा गया खजाना तो नहीं है?' [74] इस विवरण से यह स्पश्ट होता है कि प्रायद्वीपीय प्राचीन भारत के लोग नंदों की भाक्ति एवं समृद्धता से परिचित थे।

महापद्म नंद की मृत्यु के उपरान्त कम" ाः कमजोर नंद राजाओं के भाासन काल में दक्षिण भारतीय राज्य पुनः स्वतंत्र हो गए। मगध के राज सिंहासन पर चंद्रगुप्त मौर्य के आसीन होने पर इन दक्षिणी राज्यों की स्वतंत्रता पुनः बाधित हुई। प्लूटार्क लिखता है कि चंद्रगुप्त मौर्य ने छः लाख सैनिकों को अपने साथ लेकर संपूर्ण भारत को जीत लिया।[75] जब चंद्रगुप्त मौर्य ने राज–पाट का त्याग किया, तो उसने सलेखना विधि से निर्वाण–प्राप्ति श्रावणबेलगोला में की। श्रावणबेलगोला और इसके आसपास के शिलालेखों में चंद्रगुप्त मुनीन्द्र का उल्लेख मिलता है। एक वृत्तान्त के अनुसार जब भद्रबाहु समृद्धशाली देश मैसूर में चंद्रगुप्त मौर्य के साथ कतावाप्र (अर्थात् चंद्रगिरी) नामक पहाडी के पास पहुँचे, तो वहाँ के एक आचार्य ने, जिनका नाम प्रभाचंद्र था, यह जानकर कि अब उसे अधिक समय तक इस संसार में नहीं रहना है, संपूर्ण संघ को भद्रबाहु के पास भेज दिया और जब उसकी सेवा के लिए सिर्फ एक ही शिष्य बचा रहा, तो तपस्या करके उसने निर्वाण लाभ किया। इस विवरण से स्पश्ट होता है कि दक्षिण भारत में उत्तर भारत में विकसित संस्कृतियों या पंथों (चाहे वह आर्य संस्कृति हो या जैन एवं बौद्ध धर्म हों) एवं वहाँ से आए आचार्यों को अत्यधिक महत्व प्राप्त था। दक्षिण भारत में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अभियानों की भी सूचना अ" ाोक के काल से ही प्राप्त होती है। पाटलिपुत्र में तृतीय बौद्ध परिशद् के बाद विभिन्न देशों में धम्म के प्रचार के लिए दूत भेजे गए। उनके संबंध में श्रीलंका के वृत्तान्त 'महावंश' में जो विवरण दिया हुआ है, उसमें दक्कन के प्रदेशों का भली–भाँति उल्लेख है। उससे ज्ञात होता है कि महादेव नाम के एक व्यक्ति को महिशमण्डल (मैसूर), रकहीता को वनवासि (जो बाद में कदम्ब राज्य का केंद्र बना), योने धम्म रकहीता को, जो संभवतः यूनानी संत था, अपरन्तक (बंबई समुद्र तट का उत्तरी अर्द्धांश) और महाकहिया को मराठा देश भेजा गया। अ" ाोक के पुत्र महेन्द्र, जो लंका को बौद्ध–धर्मावलंबी बनाने के लिए जिम्मेदार था, का भी नाम अन्य चार व्यक्तियों के नामों के साथ एक सूची में आता है, जिन्हें श्रीलंका में बौद्ध–धर्म का संदेश फैलाने का श्रेय प्राप्त है।[76] अ" ाोक के अभिलेख दक्कन में उडीसा के धौली, जौगढ, आंध्र प्रदेश के एर्रगुडी, महाराश्ट्र के सोपारा, कर्नाटक के मस्की, सिद्धपुर, सन्नाती आदि स्थानों से प्राप्त होते हैं। संगम ग्रंथो से पता चलता है कि तत्कालीन समाज में ब्राह्मणो का बडा सम्मानजनक स्थान था। ब्राह्मणों को

[74] डा0 के0 ए0 नीलकण्ठ भाास्त्री : वही – पृश्ठ सं. 89, 90, 91, 94
[75] डा0 हरि नारायण दुबे : दक्षिण भारत का वृहत् इतिहास, भारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2002 – पृश्ठ सं. 23, 24
[76] डा0 के0 ए0 नीलकण्ठ भाास्त्री : वही – पृश्ठ सं. 89, 90, 91, 94

ISSN-2394-6326
Journal de Brahmavart

किसी भी प्रकार की क्षति न पहुँचाना, सम्मानपूर्वक दान देना तथा उन्हे सदा प्रसन्न रखना संगम युग के भाासकों का राजोचित आदर्श बन चुका था। राजा को प्रायः उनके कर्तव्य का बोध ब्राह्मण कविगण ही कराते थे।[77] कृषि उत्पादन के विकास के साथ–साथ वहॉ की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक संरचना में ब्राह्मणों का वर्चस्व बढता गया। परवर्ती युग में दक्कन में ब्राह्मण सीधे राजनैतिक क्षेत्र में सक्रिय दिखाई देते हैं। सातवाहन, वाकाटक आदि शासकों ने स्वयं को क्षत्रिय न बताकर ब्राह्मण–वर्ण का बताया। जबकि उत्तर भारतीय शासकों ने स्वयं को सदैव क्षत्रिय–वर्ग का ही बताया। संभवतः उत्तर भारत में शासक वर्ग के लिए क्षात्र–धर्म की अनिवार्यता का सिद्धान्त प्रभावी था, जो प्रायद्वीपीय भारत में शिथिल था।

संगम काल में सैनिक योद्धाओं (विशेषतः वीरगति को प्राप्त सैनिक) को भी अति उच्च स्थान प्राप्त था। युद्ध में होने वाले मृत्यु न केवल सैनिक बल्कि उसकी मॉ के लिए भी स्वागत योग्य होती थी और ऐसा विश्वास किया जाता था कि ऐसी मृत्यु के बाद व्यक्ति सीधे स्वर्ग चला जाता है। योद्धा के लिए बिस्तर पर की भान्तिपूर्ण मृत्यु लज्जास्पद समझी जाती थी। शासनारुढ सेनापतियों के परिवारों में युद्ध के अलावा अन्य प्रकार से मृत व्यक्ति की लाश तलवार से काट दी जाती थी और दर्भ घास पर रख दी जाती थी और मंत्र पढे जाते थे, ताकि उसे योद्धाओं के स्वर्ग (वीर स्वर्ग) में स्थान मिल सके। जो सैनिक युद्ध में मरते थे, उनकी पाशाण–मूर्तियॉ स्मारकस्वरुप बनती थीं, जिन पर उनके नाम और सफलताएँ अंकित रहा करती थीं। इन पाशाण–मूर्तियों की देवताओं के रुप में अक्सर पूजा होती थी। राजा स्वयं युद्ध–भूमि में जाते थे और अपनी सफलताओं में सामान्य सैनिक के साथ खुशियॉ मनाते थे। दूसरी ओर अगर राजा युद्ध में मार डाला जाता या घायल हो जाता था, तो पराजय स्वीकार कर लर जाती थी। विजित देश क्रूरतापूर्वक नष्ट–भ्रष्ट कर दिए जाते थे, अनाज के खेत तक न बख्शो जाते थें। एक कविता में उल्लेख प्राप्त होता है कि जिन महिलाओं के पति वीरगति को प्राप्त होते थे, वे युद्ध–क्षेत्र में विलाप करती थीं। यदि इसे कवल अलंकारिक वर्णन मान लिया जाय, तो भी संभव है कि कम से कम ऊॅचे परिवारों की महिलाएँ कभी–कभी अपने पतियों के साथ युद्ध में जाती थीं।[78] राजा के आवास–महल में भी सुरक्षा हेतु पुरुश सैनिकों के अतिरिक्त सशस्त्र महिलाएँ रखी जाती थीं।[79] एक उल्लेख यह भी प्राप्त होता है कि हेराक्लीज (कृष्ण के प्रसंग में) ने अपनी पुत्री पण्डैया को दक्षिणी समुद्र का तटवर्ती राज्य शासन करने के लिए दे दिया।[80] माना जाता है कि पाण्ड्य राज्य का नामकरण का आधार इन्हीं का नाम था। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि दक्कन में महिलाओं की राजनीतिक–स्थिति अपेक्षाकृत अच्छी थी। परवर्ती काल में भी महिलाएँ राजनैतिक भूमिका में दिखाई देती हैं। सातवाहन भासक भातकर्णि प्रथम की मृत्यु के पश्चात् उसकी रानी नायनिका ने अपने दो अल्पवयस्क पुत्रों भाक्तिश्री एवं वेदश्री की

[77] डा0 हरि नारायण दुबे :वही – पृश्ठ सं. 42
[78] डा0 के0 ए0 नीलकण्ठ भास्त्री : वही – पृश्ठ सं. 144
[79] डा0 हरि नारायण दुबे :वही – पृश्ठ सं. 43
[80] डा0 के0 ए0 नीलकण्ठ भास्त्री : वही – पृश्ठ सं. 75

ISSN-2394-6326
Journal de Brahmavart

संरक्षिका बनकर स्वयं भाासन किया। इसी अवधि में उसने नानाघाट अभिलेख उत्कीर्ण करवाया।[81] इसी प्रकार वाकाटक नरेशरुद्रसेन द्वितीय की रानी प्रभावती गुप्त का उल्लेख प्राप्त होता था, जोकि गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री थी। रुद्रसेन द्वितीय की अकाल मृत्यु के पश्चात् रानी प्रभावती अपने पुत्र को राजा घोषित कर राजा के रुप में स्वयं भाासन भार संभालने लगी, जबकि बेसिम में वाकाटकों की एक अन्य भााखा भी थी।[82] संभव है कि वे इस प्रणाली का विरोध इसलिए न कर पाए हों कि रानी के पिता चंद्रगुप्त द्वितीय उत्तर भारत में एक विशाल साम्राज्य के स्वामी थे। इतना ही नहीं, बल्कि गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त द्वारा प्रायद्वीपीय भारत सहित संपूर्ण भारत में विजय अभियान किए गए थे। अतः वे विरोध करके अपने साम्राज्य से हाथ नहीं धोना चाहते थे। लेकिन प्रायद्वीपीय भारत में पत्नी–पूजा का उल्लेख भी प्राप्त होता है, जो समाज में स्त्रियों की अति सम्मानित स्थिति का सूचक है। भानगुट्टवन ने 'कण्णगी–पूजा' (पत्नी–पूजा) का भाुभारंभ कराया एवं सती कण्णगी की स्मृति में प्रतिमा व एक भव्य मंदिर निर्मित कराकर उसे पारंपरिक पूजा में सम्मिलित कराया।[83] सातवाहन भाासकों के मातृसूचक नाम (शासकों के नामों में पहले उनकी माताओं के नाम) प्राप्त होत हैं, जैसे गौतमीपुत्र भाातकर्णि, वशिष्ठीपुत्र पुलुमावी। यह उनकी सुदृढ राजनैतिक स्थिति को संकेतित है, अपितु सातवाहन सत्ता पितृसत्तात्मक थी। कदंबों में मातृसूचक नाम एवं पितृसूचक गोत्र धारण करने की परंपरा थी।[84] कदंब भाासकों के रानियों के साथ सम्मिलित रुप से भाासन करने के उदाहरण प्राप्त होते हैं। स्थानीय प्र" ाासन में महिलाओं की नियुक्ति चालुक्य भाासन में तो एक प्रमुख वि" ोशता थी। हमें दसवीं सदी में चालुक्य राजकुमारी अक्कादेवी का उल्लेख एक प्र" ाासक के रुप में प्राप्त होता है। गवर्नरों (पुरुशों) की पत्नियों को भी उच्च अधिकारिता या वरीयता प्राप्त थी।[85] उपरोक्त विवरण से प्रायद्वीपीय भारत में तत्कालिक महिलाओं की अच्छी स्थिति स्पष्ट होती है।

उत्तर भारत में अकाल पडने के कारण आचार्य भद्रबाहु और सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य का दक्षिण भारत की प्रस्थान करना दक्षिण भारत में कृशि को उच्च उत्पादकता को सूचित करता है। संगम कालीन चेर देश अपनी भैसों, कटहल, गोल मिर्च और हल्दी के लिए प्रसिद्ध था। कावेरी नदी द्वारा सिंचित चोल देश के बारे में कहा जाता था कि जितनी जगह में एक हाथी बैठता है, उतनी से इतना अन्न पैदा होता था कि यह सात हाथियों के लिए पर्याप्त था और भूमि के एक बेली में एक हजार कलम घास उपजता था। संगम युग में सर्वाधिक उल्लेखनीय वर्ग वल्लालों (कृशकों) का था। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राक्–संगम युग में, जबकि कृशि–कर्म का विशेष प्रचलन नहीं हो सका था, वल्लाल वर्ग के लोगों की सामाजिक स्थिति दयनीय थी।

---

[81] आर. भारण : प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व, राधा पब्लिके" ांस, नई दिल्ली, 2008 – पृश्ठ सं. 101
[82] डा0 के0 ए0 नीलकण्ठ भाास्त्री : वही – पृश्ठ सं. 116
[83] डा0 हरि नारायण दुबे :वही – पृश्ठ सं. 33
[84] डा0 के0 ए0 नीलकण्ठ भाास्त्री : वही – पृश्ठ सं. 107
[85] आर. सी. मजूमदार : द स्ट्रगल फॉर अम्पाायर, भारतीय विद्या भवन, मुंबई, 2001 – पृश्ठ सं. 280, 281

ISSN-2394-6326
Journal de Brahmavart

परन्तु कालान्तर में प्रायद्वीपीय भारत में कृशि–कर्म के व्यवस्थित होने एवं उसकी संवृद्धि के फलस्वरुप वल्लालों का एक भाक्तिसंपन्न वर्ग क्रमशः प्रगति करके जमींदार बन गया। उल्लेख प्राप्त होता है कि चोल राजा करिकाल ने जंगल–भूमि को खेती योग्य बनाने तथा वहॉ लोगों के बसाने के काम को प्रोत्साहित किया, साथ ही सिंचाई के लिए तालाबों की संख्या में वृद्धि करके राज्य की समृद्धि में योगदान किया। उसने कावेरी की बाढ को रोकने के लिए अपने करद राजाओं की सहायता से तटबंधों का निर्माण भी किया। संगम–युगीन साहित्य में तत्कालीन कृशि–कर्म में गन्ना उगाने, उससे चीनी बनाने, विविध प्रकार के खाद्यान्नों व फलों को उपजाने के वर्णन मिलते हैं। तमिल राज्यों की राजकीय आय का प्रमुख स्रोत तथा सामाजिक जीवन के निर्वाह की आधारशिला कृशि ही थी। तमिल दे" ा के बहुत से भागों में भाासन करने वाले 'वेल सामंतों' से प्राप्त आय भी राज्य की आय का प्रमुख स्रोत था।[86] ये वेल सामंत संभवतः वेल्लाल वर्ग के आर्थिक संपन्नता प्राप्त कर लेने एवं राजनैतिक महतवाकांक्षा के कारण अस्तित्व में आए। निरंतर संघर्शरत संगम कालीन नियमित एवं स्थायी सेना का भरण–पोषण मूलतः कृषि पर ही आधारित था। अतः कृशक वल्लालों का तत्युगीन अर्थव्यवस्था एवं उत्पादन में महत्वपूर्ण योगदान माना जा सकता है। किन्तु प्रायद्वीपीय भारत में कृषि–कर्म को उत्तर भारत की तरह सांस्कृतिक महत्व प्राप्त नहीं था। उत्तर भारत के विशय म मेगस्थनीज ने बार–बार वर्णन किया है कि, ''शत्रु भी अपनी भूमि पर काम कर रहे किसान को हानि नहीं पहुँचाता, क्योंकि किसान हितकारी माने जाते हैं, इसलिए हानि से बचाए जाते हैं।''[87] इस तथ्य से उस काल में उत्तर भारत में कृशि के सांस्कृतिक महत्व पर प्रका" ा पड़ता है अर्थात् कृशि एक पवित्र कार्य माना जाता था। जबकि प्रायद्वीपीय भारत में युद्ध के समय भात्रु राज्य की कृशि आदि को भी नश्ट करने की परंपरा थी। इसके अतिरिक्त समुद्र के तटवर्ती क्षेत्रों में मछली एवं मॉस की प्रचुरता थी। इस काल के पुहार, तोण्डी, मुशिरी आदि नगरों के उत्खननों से उपलब्ध साक्ष्यों तथा साहित्यिक उल्लेखों से तत्कालीन दक्षिण भारतीय आन्तरिक एवं विदे" ाी व्यापार की प्रगति का ज्ञान होता है। पुहार बंदरगाह के व्यापारी वैदेशिक व्यापार, वाणिज्य एवं आर्थिक प्रगति के कारण बहुत धनाढ्य थे। इन नगरों में व्यापारियों के पास प्रायः दो–मंजिले भव्य भवन थे। नीचे की मंजिल में व्यापारिक माल रखा जाता था तथा ऊपरी मंजिल में व्यापारियों का परिवार रहता था। इस प्रकार हमें संगमकालीन प्रायद्वीपीय भारत के आर्थिक प्रगति एवं समृद्धता की सूचना प्राप्त होती है।

संगम–ग्रंथों में कतिपय पहाडी एवं जंगली जनजातियों का भी उल्लेख मिलता है, जो अधिकांशतया निर्धन थीं। समुद्र तटीय नगरों एवं बंदरगाहों में समुन्नत व्यापार तथा तटीय मैदानों में समुन्नत खेती के होते हुए भी तत्कालीन समाज में ऐसी जातियों में निर्धनता एवं पिछडापन व्याप्त था।इस युग की जनजातियों के अधिकांश लोग पशु चोरी, लूट–पाट तथा नृशंस कार्यों में व्यस्त आक्रांता थे। एम0 जी0 एस0

[86] डा0 के0 ए0 नीलकण्ठ भाास्त्री : वही – पृश्ठ सं. 129, 134, 139, 140
[87] द्विजेन्द्र नारायण झा एवं कृश्णमोहन श्रीमाली : पूर्वोद्धृत – पृश्ठ सं 202.

ISSN-2394-6326
Journal de Brahmavart

नारायण ने संगम साहित्य में वर्णित लडाकू जनजातियों के शासकों के विशिष्ट रीति–रिवाजों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, जिनमें 'मरवा' नामक जनजाति में प्रचलित 'वत्ची–प्रथा' विशष उल्लेखनीय है। इस प्रथा के अंतर्गत पशुओं की चोरी, दूसरे राज्यों की सम्पत्ति का अपहरण तथा लूट–मार आदि कर्मों की पूरी छूट होती थी। वे मैदानी भू–भागों के पशुओं का अपहरण करके उनके मालिकों के साथ आए दिन लूट–मार करने में अपना जातीय भौर्य मानते थे। 'पुरुनानूरु' नामक संगम–काव्य में संकलित एक कविता में वेत्ची नायकों द्वारा मैदानी क्षेत्र के चरवाहों को मारकर उनकी गायों के झुण्ड को छीनने तथा उन्हें उपहार के रुप में बॉटने की प्रथा को उक्त जनजातियों के नायकों का वीरोचित कर्म बताया गया है। वीर मरवा नायकों को संगम कालीन राजाओं ने अपने सैन्य–अभियानों में भी सम्मिलित किया था। उनकी सहायता से राज्य सैनिकों के लिए मॉसाहार की व्यवस्था कराई जाती थी तथा कभी–कभी उनके द्वारा पशुहरण का धावा बुलवाकर भात्रु पक्ष को युद्ध का सामना करने की सूचना भी दे दी जाती थी। इस प्रकार संगम युगीन भाासकों ने वेत्ची प्रथा का पोशण किया था। गॉव अथवा कबीले की सुरक्षा करना तथा अपने स्वामी के लिए भात्रुओं के साथ युद्ध करना, इन जनजातियों के मुखिया लोग अपना कुल–धर्म मानते थे। नायकों अथवा मुखियों के साथ कबीले के सभी पुरुश युद्ध के लिए जाते थे तथा जहॉ उनके मुखिया की मृत्यु अथवा हत्या हो जाती थी, वहॉ मृतक के सम्मान में पत्थर गाड दिया जाता था। ये वीर एवं लडाकू कबीले के लोग न तो ब्राह्मण धर्म के आदर्शों मे रुचि रखते थे, न ही पशुपालन अथवा कृशि–काय में। मरवा जनजाति के युवकों कों संगम युगीन अनेक राजाओं ने अपनी सेना में स्थायी रुप से प्रविश्ट कर लिया था।[88] अर्थात् जनजातीय समुदाय को समाज की मुख्यधारा में लाने के संकेत मिलते हैं।

अशोक के अभिलेखों में भी दक्षिणापथ की जनजातियों को समाज की मुख्यधारा में लाने के प्रयत्न दिखाई देते हैं। अशोक ने कबीलाई लोगों और सीमावर्ती राज्यों को विचाराधारात्मक रुप से प्रभावित किया। कलिंग की प्रजा को कहा गया कि वह राजा को पिता के समान माने और उन पर भरोसा करे। साथ ही कबीलाई लोगों को भो धम्म के सिद्धान्तों का पालन करने के लिए कहा गया। संगम–युग के बाद सुदूर–दक्षिण में एक ऐसी लम्बी अवधि (तीन भाताब्दी से भी अधिक) मिलती है, जिसके बारे में हम कुछ भी नहीं जानते। छठी भाताब्दी के अन्त में कलभ्रों का उल्लेख एक राजनैतिक भाक्ति के रुप में प्राप्त होता है। कलभ्रों को दुश्ट भाासक (कलि–अरशर) कहा गया है। उन्होने अनेक अधिराज को उखाड फेंका और ब्रह्मदेव अधिकारों को रद्द कर दिया। कलभ्रों के बारे में हमें अधिक जानकारी नहीं मिलती है, किन्तु कुछ बौद्ध ग्रंथों में हम कलभ्र कुल के अच्युत–विक्कान्त की चर्चा पाते हैं, जिसके भाासन में चोल देश में बौद्ध–मठों और बौद्ध–लेखकों को बहुत अधिक प्रश्रय मिला। संभवतः अच्युत स्वयं बौद्ध था। कलभ्रों ने सुस्थापित राजनीतिक व्यवस्था उलट दी, जिसे फिर से उस समय स्थापित किया जा सका, जब पाण्ड्य, पल्लवों

[88] डा0 हरि नारायण दुबे :वही – पृश्ठ सं. 44, 45, 46

ISSN-2394-6326
Journal de Brahmavart

और बादामी चालुक्यों ने कलभ्रों को पराजित किया। हालांकि उत्तर भारत के अनेक भाासकों द्वारा दक्कन में अनेक सामाजिक एवं आर्थिक विकास के कार्य किए जाने के विवरण प्राप्त होते हैं। रुद्रदामन के जूनागढ अभिलेख से सूचना प्राप्त होती है कि उसके राज्यपाल सुविशाख ने सौराष्ट्र में सुदर्शन झील पर बने बॉध की मरम्मत कराई थी। वर्णन प्राप्त होता है कि इस झील का निर्माण मौर्य शासक चंद्रगुप्त मौर्य द्वारा कराया गया था तथा इससे निकलने वाली एक नहर का निर्माण अ" ाोक के भाासन काल में तुशाश्प द्वारा कराया गया[89], ताकि कृषि भूमि की उचित सिंचाई हो सके।

प्रायद्वोपीय भारत प्रारंभ में उत्तर भारत का ऋणी रहा, किन्तु अनेक कालखण्डों के दौरान उसने भारत की राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक प्रणाली में अग्रणी भूमिका निभाई। गुप्त एवं हर्श काल के प" चात् जब उत्तर भारत में स" ाक्त साम्राज्य का अभाव रहा तब दक्कन के राष्ट्रकूट आदि राजवंशों का उत्तर भारत की राजनीति में अत्यधिक हस्तक्षेप रहा। चोल भाासक राजेन्द्र प्रथम का गंगा नदी के क्षेत्र में सुप्रसिद्ध अभियान उल्लेखनीय है। उसने इस उपलक्ष्य में गंगैकोण्डचोल की उपाधि धारण की। उसने उत्तर–पूर्वी भारतीय पराजित राजाओं को गंगाजल से पूरित कलश अपनी नई राजधानी गंगैकोण्ड–चोलपुरम् में ले जाने का आदेश दिया था। राजेन्द्र चोल ने संभवतः भारतीय सांस्कृतिक एकता को और अधिक सुदृढ करने के लिए तथा आर्यावर्त में सर्वाधिक समादृत गंगा एवं उससे जुडी आर्य संस्कृति को दक्षिण भारत में स्थायी महत्ता प्रदान करने के लिए पूर्वोत्तर भारतीय पराजित राजाओं द्वारा लाए गए गंगाजल को अपनी राजधानी गंगैकोण्डचोलपुरम् के 'चोलगंग' नामक नवनिर्मित तडाग में एकत्र करवाया। साथ ही चोल भाासकों द्वारा किए गए सामुद्रिक अभियानों के विवरण भी प्राप्त होते हैं। चोलों ने एक अच्छो प्रशासनिक व्यवस्था कायम की थी, जिसमें केंद्र का शक्तिशाली नियंत्रण तो था ही, साथ ही स्थानीय–स्व" ाासन अपने विशिष्ट रुप में था। चोल सम्राट परान्तक प्रथम के भाासनकाल में चोल प्रशासनिक प्रणाली में सुधार किए जाने के लिए दो बार 'उत्तर–मेरुर' की सभा आहूत की गयी थी। उत्तरमेरुर–अभिलेख से चोलकालीन स्थानीय स्वशासन का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। उर, सभा तथा नगरम् नामक तीन स्वायत्त संस्थाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। चोल भाासनतंत्र में सभी ग्राम–समुदायों का एक भाक्ति" ाली संगठन किया जाता था। इन्ही ग्राम संगठनों के द्वारा (अपनी अनेक समितियों एवं उपसमितियों के द्वारा) वहॉ के सामाजिक, आर्थिक सभी कियाकलाप नियंत्रित होते थे। पंचायतें अपने आदे" ाों को प्रस्तर फलकों पर उत्कीर्ण करवाती थी, जिन्हें प्रायः ग्राम्य मंदिरों की बाह्य दीवालों पर जड दिया जाता था। ग्राम–सभा का कार्य–क्षेत्र बहुत विस्तृत था। ये सभाएँ अपने कार्यविधि में एक लघु गणतंत्र मानी जा सकती हैं। ये सभाएँ भू–स्वामित्व निर्धारण करती थीं अर्थात् ग्राम्य भू–विवादों का निर्णय करती थीं। ग्रामोपयागी कार्यों (जैसे कृशि उत्पादन में वृद्धि हेतु सिंचाई के कार्य, परती भूमि पर वृक्षारोपण, उद्यान

[89]परमे" वरी लाल गुप्त : प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, भाग 2, वि" वविद्यालय प्रका" ान, वाराणसी, 2014 – पृश्ठ सं. 143

ISSN-2394-6326
Journal de Brahmavart

निर्माण आदि) के लिए ग्राम–सभाएँ राजाज्ञा पर आश्रित नहीं थीं। भूमि का वर्गीकरण ग्राम–सभा की अनुमति के बिना नहीं किया जा सकता था। यही सभा भूमि–कर का संग्रह करती थी और संग्रहीत राशि को राजकोश में जमा भी करती थी। नगरम् व्यापारिक–केंद्रों के प्रबंध–कार्य हेतु थी।[90] उपरोक्त स्थानीय स्वायत्तता तात्कालिक चोल राज्य में (बल्कि तात्कालिक प्रायद्वीपीय भारतीय समाज में) जनसामान्य की स्थिति एवं महत्व को भी द" ार्ती है।

इसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र में प्रायद्वीपीय भारत का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि प्रायद्वीपीय भारत में अत्यधिक समृद्धता थी। हॉ, यह सत्य है कि प्रायद्वीपीय भारत में कृषि तकनीक का प्रवेश उत्तर भारत से हुआ। किन्तु स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरुप कृशि तकनीक एवं फसलों का विकास किया गया। सिंचाई के लिए तालाबों का उपयोग किया गया। वहॉ की मृदा के स्वरुप ने नगदी फसलों के उत्पादन को व्यापारिक–स्तर पर संभव बनाया। फसलों की उत्तम गुणवत्ता के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। मलय पहाडी क्षेत्र में उत्पादित चंदन–लकडी, गुजरात के क्षेत्र में उत्पादित नील आदि प्रसिद्ध थे। कलिंग क्षेत्र में उत्पादित चावल अपनी गुणवत्ता के लिए इतना प्रसिद्ध था कि उसे राजा के भोजन में भाामिल किया जाता था।[91] वस्तुओं की गुणवत्ता एवं अत्यधिक मात्रा में उत्पादन ने व्यापार को बढावा दिया। साथ ही समुद्र तट की उपलब्धता ने उसके लिए सकारात्मक परिवेश तैयार रखा। प्रायद्वीपीय भारत की समृद्धता का आधार मुख्यतः व्यापार ही था, जबकि उत्तर भारत में समद्ध का आधार कृशि ही रही। हॉ यह अव" य है कि कुछ कालखण्डों में (जैसे कुशाण काल) उत्तर भारत में व्यापार का अत्यधिक विकास दिखाई देता है और तत्कालिक समृद्धता का आधार व्यापार भी रहा।

प्रायद्वीपीय भारत की समृद्धता हमें वहॉ विकसित हुई कला, विशेषतः मंदिर स्थापत्य–कला के रुप में भी दिखाई देती है। प्रायद्वीपीय भारत में कला एवं साहित्य का भी अत्यधिक विकास हुआ। वहॉ भारतीय वास्तुकला के एक विशिष्ट शैली 'द्रविड शैलो' का विकास दिखाई देता है। पल्लव काल के कला–प्रेमी राजाओं ने राजधानी कॉचीपुरम् तथा उसके निकटवर्ती क्षेत्रों में द्रविड कला–शैली का शिलान्यास किया। पल्लव काल में गुहा–मंदिर, मण्डप, रथ–मंदिर निर्मित किए गए। मामल्ल–शैली में निर्मित मण्डप मूर्तिकला की दृश्टि से भो विशेष उल्लेखनीय हैं। मामल्ल–शैली में निर्मित रथ–मंदिर एका" म–मंदिर हैं। पल्लव भाासक नरसिंहवर्मन द्वितीय 'राजसिंह' ने परंपरागत पल्लव वास्तु भौली से हटकर ईंट, पत्थर आदिके उपयोग से संरचनात्मक मंदिरों के निर्माण की नई परंपरा प्रचलित की। राजसिंह–शैली में कॉचोपुरम् का कैलास–मंदिर सर्वाधिक उल्लेखनीय है, जिसे 'राजराजे" वर' मंदिर के नाम से भी जाना जाता है। पल्लवों के समकालीन ही बादामी के चालुक्यों के संरक्षण में भी स्थापत्य कला का पर्याप्त विकास दिखाई देता है। पश्चिमी–घाट की गुफाओं में मंदिर–निर्माण की जो परंपरा गुप्त–वाकाटक युग

[90] डा0 हरि नारायण दुबे :वही – पृश्ठ सं. 211, 227, 228
[91] आर. सी. मजूमदार : द स्ट्रगल फॉर अम्पाायर, भारतीय विद्या भवन, मुंबई, 2001 – पृश्ठ सं. 516, 517

ISSN-2394-6326
Journal de Brahmavart

में विकसित हुई थी, उसकी कलात्मक पराकाश्ठा चालुक्यों के काल में एलोरा की कला में दिखलाई देती है। एलोरा में तीनों संप्रदायों (हिन्दू, बौद्ध, जैन) के गुहा–मंदिर बने हैं। वातापी का द" ाावतार विश्णु–मंदिर दो मंजिला है। चालुक्य कालीन लोके" वर शिव विरुपाक्ष मंदिर की गणना भारत के सुन्दरतम मंदिरों में की जाती है।इस मंदिर के सन्निकट संगमे" वर मंदिर पर पल्लव द्रविड वास्तु–शैली का प्रभाव परिलक्षित होता है। इसके विपरीत पापनाथ मंदिर में द्रविड एवं नागर दोनो कला–शैलियों का संयुक्त प्रभाव परिलक्षित होता है। वस्तुतः इस मंदिर का शिखर नागर भौली में है। स्थापत्य कला का परवर्ती भाासकों (राश्ट्रकूट, चोल आदि) के काल में और अधिक विकास हुआ। अपनी साम्राज्योत्थान की ऊशाकालीन मनोहर राजधानी 'एलोरा' को अमरस्मृति देने के उद्देश्य से राष्ट्रकूट भाासक कृश्ण प्रथम न इस पहाडी में एक गुफा को काटकर जगत–प्रसिद्ध कैलाश मंदिर का निर्माण करवाया। इसके निर्माण–कार्य पूरा होने पर इस गुहा–मंदिर का कलात्मक कलेवर एवं उसका संपूर्ण वैभव किस प्रकार निखरकर प्रस्तुत हुआ, इसका आकलन तत्कालीन एक कवि की इस उक्ति से की जा सकती है। उसने लिखा है कि इसका प्रधान–वास्तुक निर्माण कार्य पूरा करने के बाद मंदिर की अलौकिक भव्यता को देखकर विस्मयान्वित होकर विस्फारित नेत्रों से अप्रतिम कला–रचना को देखता ही रह गया एवं अर्द्ध–चैतन्य मुद्रा में बोल उठा कि 'इसे मैने कैसे निर्मित कर दिया'। इसी प्रकार चोल भाासकों के काल में सुन्दरे" वर मंदिर, तंजौर का वृहदे" वर मंदिर, गंगैकोण्डचोलपुरम् का वृहदे" वर मंदिर, ऐरावते" वर मंदिर आदि अनेक मंदिरों का निर्माण–कार्य हुआ।[92] विजयनगर राज्य में तो भारतीय कला एवं साहित्य अपनी विशिष्टता को लिए हुए भारतीय–संस्कृति के पोशक भी हैं। प्रायद्वीपीय भारत ने भारत के सैद्धान्तिक और व्यवहारिक धर्म तथा दार्शनिक विचार–पद्धति को उसके विविध पहलुओं में मूल्यवान योगदान किया। वेदान्त की तीन मुख्य प्रणालियों की आधारशिला रखने वाले भांकराचार्य, रामानुज और माधवाचार्य दक्षिण–भारत में ही हुए। इस प्रकार दक्षिण भारत में प्राचीन काल से चली आ रही संस्कृति पोशित होती रही।

लेकिन यह भी सत्य है कि प्राचीन भारत में गुप्त काल के पश्चात् भारत के विकास में बाधक बनी सामंतीय–व्यवस्था के उदय के बीज संभवतः दक्कन में ही दिखाई देते हैं। सातवाहन कालीन अभिलेखों से सामंतीय–व्यवस्था की जनक भूमिदान–प्रणाली की भाुरुआात के उल्लेख प्राप्त होते हैं। भूमिदान का सर्वप्रथम उल्लेख रानी नागानिका के नानाघाट–अभिलेख में प्राप्त होता है। गौतमीपुत्र भाातकर्णि के नासिक–अभिलेख में अभिलिखित है कि उसने अपने आमात्य विश्णुपालित का आदेश दिया – 'पूर्वकाल में ऊशवदात (ऋशभदत्त) के अधिकार में जो दो सौ निवर्तन भूमि थी, उसे मैं त्रिरश्मि–प्रवज्जितों (बौद्ध–भिक्षुओं) को प्रदान करता हूँ।' इस भूमि के साथ उसने परिहार भी प्रदान किए। इसी प्रकार वशिष्ठीपुत्र पुलुमावी के नासिक–अभिलेख में अभिलिखित है कि गौतमी बलश्री द्वारा भद्रायणी

[92] डा0 हरि नारायण दुबे :वही – पृश्ठ सं. 76, 77, 117, 119, 120, 121, 169, 240

ISSN-2394-6326
Journal de Brahmavart

संप्रदाय को दान किए गए लयण की व्यवस्था के लिए ग्राम–दान किया।[93] राजा द्वारा भूमि दान देने और गॉव दान देने में अंतर था। दान किए गए भूमि का स्वामी दान पाने वाला व्यक्ति हो जाता था, जबकि दान दिए गए गॉव की आय का उपभोग करने का अधिकार मात्र उसे मिलता था। अभिलेखों में लिखा है कि यह गॉव अक्षयनीवी के रुप में दिया गया है, जिसका अर्थ है कि उस गॉव की आय का उपभोग भिक्षु सदैव कर सकते थे, परन्तु उसे बेच या अन्य व्यक्ति को नहीं दे सकते थे।[94] प्रारंभ में ये भूमि–दान संभवतः भूमि या क्षेत्र के विकास के लिए या धार्मिक पुण्य के लिए दिए जाते थे। दान में उपजाऊ क्षेत्र एवं खनन संपदा से युक्त भूमि के भी दिए जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इन दानों के फलस्वरुप भले ही इनसे राज्य का स्वामित्व समाप्त हो जाता था, किन्तु संभवतः ये दान इसलिए किए जाते थे, ताकि अधिक उत्पादन हो सके और राज्य को समृद्धि प्राप्त हो सके। ये भूमिदान मुख्यतः धार्मिक–संस्थाओं को, जो उस समय उत्पादन व व्यापार के केंद्र होते थे, दिए जाते थे। प्रशासनिक अधिकारियों और सैनिकों को भी भूमि एवं गॉव दान दिए जाते थे, जो संभवतः राज्य के राजस्व–प्राप्ति एवं भान्ति–व्यवस्था में सहायक था। तत्कालिक भासकों के अधीन सामंतों का उदय दिखाई देता है, जिससे छोटे–छोटे राज्यों का उदय हुआ। किन्तु गुप्तोत्तर कालीन भारत में दक्षिण की अपेक्षा उत्तर भारत में आर्थिक पगति विशेष अवरुद्ध हुई। इसका प्रमुख कारण सम्राट हर्शवर्धन के उपरान्त मध्य देश में उद्भूत एक दीर्घकालीन राजनीतिक–भून्यता को माना जा सकता है। कान्यकुब्ज से लेकर पूव्र, पॅ चमतथा दक्षिण की भाक्ति" ाली पाल, प्रतिहार तथा राश्ट्रकूट राजव" ाों की भाक्तियॉ परस्पर संघर्शरत रहीं। शक्तिशाली साम्राज्य–शक्ति के अभाव में सामंती भाोशण से ग्रसित जनता अधिक उत्पादन से विमुख रही। परन्तु दक्षिण भारत में पश्चिमी चालुक्यों और राश्ट्रकूटों को छोडकर अन्य राज्यों की आर्थिक–स्थिति सामंती–व्यवस्था से भासित होने के बावजूद वि" ोश अवरुद्ध नहीं हो सकी। पल्लवों एवं चोलों द्वारा बनाए गए बहुसंख्यक मंदिरों तथा अन्य सांस्कृतिक क्रिया–कलापों से संकेतित होता है कि यहॉ विकास की गति में अवरोध भले ही आए हों, परन्तु स्थिति निराशाजनक एवं पतनोन्मुख नहीं थी। पूर्व–मध्यकाल में भी प्रायद्वीपीय भारत समृद्ध था।

[93] परमे" वरी लाल गुप्त : प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, भाग 1, वि" वविद्यालय प्रका" ान, वाराणसी, 2014 – पृश्ठ सं. 182, 183, 186

[94] डा0 भारद सिंह : प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, वि" वविद्यालय प्रका" ान, वाराणसी, 2008 –पृश्ठ सं. 206, 207